

# अमृतचन्द्र और काष्ठा संघ

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई, से प्रकाशित 'प्रवचनसार' के अन्त में 'प्रशस्ति' शीर्षक से एक प्रशस्ति मुद्रित है। यह प्रशस्ति अमृतचन्द्र की टीका के पश्चात् मुद्रित है। इसमें वि० सं० १४६६ तथा गोपाद्रि (ग्वालियर) के देवालय के उल्लेखपूर्वक काष्ठा संघ माथुरान्वय के मुनियों की परम्परा का वर्णन है। इस प्रशस्ति के पश्चात् जयसेनाचार्य की प्रशस्ति है, जो प्रवचनसार के दूसरे टीकाकार हैं। उस प्रशस्ति का शीर्षक है: टीकाकारस्य प्रशस्ति:। अर्थात् यह प्रशस्ति टीकाकार जयसेन की है। इस में उन्हें मूल संघ का लिखा है। किन्तु उक्त लेखक-प्रशस्ति के इसी आधार पर अमृतचन्द्र को काष्ठा संघ का नहीं माना जा सकता। वह तो प्रवचनसार की प्रति लिखाने वाले की प्रशस्ति है। वह काष्ठा संघी थे। किन्तु इस बादरायण सम्बन्ध से अमृतचन्द्र काष्ठा-संघी नहीं कहे जा सकते।

श्री नाथूराम जी प्रेमी ने 'अमृतचन्द्र' शीर्षक अपने लेख में लिखा है कि मेघविजय गणि ने अपने 'युक्तिप्रबोध' ग्रन्थ में अमृतचन्द्र के नाम से कई पद्य उद्धृत किये हैं उनमें दो प्राकृत के हैं।

## १. यदुवाच अमृतचन्द्रः—

सव्वे भावो जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूण ।  
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥

## २. श्रावकाचारे अमृतचन्द्रोऽप्याह—

संघो कोवि न तारइ कट्टो मूलो नहेव णिप्पिच्छो ।  
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा दु भायव्वो ॥

इनमें से प्रथम गाथा तो समयसार की ३४ वीं गाथा है। और दूसरी गाथा ढाढसी गाथा नामक ग्रन्थ की है। यह ढाढसी गाथा माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित तत्त्वानुशासनादि-संग्रह में मुद्रित है। इसमें ३८ गाथाएँ हैं। ऊपर छपा है—

'अज्ञातनाम काष्ठासंघ मुक्ताचार्यकृता ।'

अर्थात् यह किसी काष्ठासंघी आचार्य की कृति है। इसकी एक गाथा को मेघविजय गणि अमृतचन्द्र के नाम से उद्धृत करते हैं। अतः जैसे लेखक-प्रशस्ति के आधार पर अमृतचन्द्र को काष्ठा-संघ का नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार मेघविजय गणि के उल्लेख के आधार पर भी उन्हें काष्ठा संघ का नहीं माना जा सकता।

दर्शनसार के रचयिता देवसेनाचार्य ने काष्ठासंघी माथुर संघ को जैनाभासों में गिनाया है। उन्होंने काष्ठासंघ की मान्यताएँ इस प्रकार बतलाई हैं—

इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं ।  
कक्कस केसग्गहणं छट्ठं घ अणुव्वदं णाम ॥

अर्थात् वे स्त्रियों को दीक्षा देते थे। क्षुल्लकों की वीरचर्या मानते थे, आदि।

यहां यह बतला देना उचित होगा कि इस संघ में अनेक आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं किन्तु स्त्री-दीक्षा आदि की चर्चा किसी में नहीं है। स्व० प्रेमीजी ने 'अमितगति' शीर्षक लेख में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

यहाँ इसकी चर्चा करने का मुख्य कारण यह है कि अमृतचन्द्र जी और जयसेन जी की टीका के आधारभूत ग्रन्थों की गाथाओं की संख्या में अन्तर है। अमृतचन्द्र जी ने अनेक गाथाओं को, जिन पर जयसेन जी ने टीका रची है, मान्य नहीं किया है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कुन्दकुन्दत्रयी के प्रथम टीकाकार अमृतचन्द्र हैं, उनसे लगभग दो-ढाई सौ वर्ष पश्चात् जयसेन

हुए हैं। प्रवचनसार के चारित्र्याधिकार में गाथा २४ और २५ के बीच कुछ गाथाएँ जयसेनाचार्य की टीका में हैं जिनमें स्त्री के संयम का निषेध किया है। उनपर अमृतचन्द्र की टीका नहीं है। इस पर से ऐसी कल्पना की जा सकती है कि चूँकि काष्ठासंघ स्त्री-दीक्षा का पक्षपाती है और अमृतचन्द्र काष्ठासंघी थे, इसीसे उन्होंने उनपर टीका नहीं रची। किन्तु हमें इस कल्पना में कुछ सार प्रतीत नहीं होता; क्योंकि अमृतचन्द्र जी ने कुन्दकुन्द के द्वारा प्रतिपादित साधु के अट्टाईस मूल गुणों को स्वीकार किया है। गाथा ३-१६ में कुन्दकुन्द कहते हैं कि परिग्रह से संबन्ध अवश्य होता है इसीलिए श्रमणों ने उसे छोड़ दिया। इसकी टीका में अमृतचन्द्र लिखते हैं—“परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता है। उसका परिग्रह के साथ सर्वथा अविनाभाव संबंध है। अतः परिग्रह एकान्त से बन्धरूप है। इसी लिए भगवन्त अर्हन्तों ने, परम श्रमणों ने स्वयं ही सभी परिग्रह को पहले छोड़ा। और इसीलिए दूसरों को भी प्रथम ही सब परिग्रह छोड़ने योग्य हैं।” आगे भी परिग्रह की निन्दा के सम्बन्ध में जितनी गाथाएँ हैं, सबपर अमृतचन्द्र की टीका है। ऐसी स्थिति में स्त्री-दीक्षा का पक्षपात संभव नहीं है। असल में प्रवचनसार की रचनाविधि को देखते हुए यह संभव प्रतीत नहीं होता कि कुन्दकुन्द स्त्री-दीक्षा के निषेध पर यहाँ दस गाथाएँ रचेंगे, इसके कथन के लिए लिगप्राभूत, भावप्राभूत आदि रखे गये हैं। अतः अमृतचन्द्र जैसा कुन्दकुन्द का व्याख्याता, जिसने अपनी विद्वत्तापूर्ण व्याख्याओं के द्वारा कुन्दकुन्द के कृतिरूपी प्रासादों पर कलशारोहण किया है, आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यताओं की अवमानना करने वाला नहीं हो सकता। यदि कुन्दकुन्द के प्रति उनकी गहरी आस्था नहीं होती, तो वे उनकी कृतियों पर इतनी विशद पाण्डित्यपूर्ण और ग्रन्थानुगामिनी टीकाएँ न रचते। अवश्य ही उनको कुन्दकुन्दत्रयी पढ़ने के पश्चात् वस्तुतत्त्व की यथार्थस्थिति का सम्यक् अवबोध हुआ है जिससे उनके अन्तःकपाट उद्घाटित होकर अन्तःकरण शान्तरस से आप्लावित हुआ है।

उनकी व्याख्या का लक्ष्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की शाब्दिक व्याख्या नहीं रहा, वे तो उसमें रहे निगूढ़ तत्त्व को उद्घाटित करके पाठक के सामने रख देना चाहते थे। उनकी भाषा भी भाव के ही अनुरूप है। संस्कृत के सरस प्रौढ़ गद्य और पद्य में अध्यात्म की सरिता का प्रवाह शान्त धीर गति में प्रवाहित होता हुआ उसमें अवगाहन करने वाले सुविज्ञ पाठक को भी अपने साथ प्रवाहित कर लेता है और सुविज्ञ पाठक भी उसमें निमग्न होकर अपने बाह्य रूप को भूल स्वानुभूति से आप्लावित हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि कुन्दकुन्द की रचना प्राकृत में होकर भी दुरूह नहीं है। उन्होंने बहुत ही सरल शब्दों में अपनी बात कही है। किन्तु अमृतचन्द्र की भाषाशैली दुरूह है। संस्कृत भाषा का प्रौढ़ पण्डित ही उसमें प्रवेश करने का साहस कर सकता है। किन्तु संस्कृत भाषा का प्रौढ़ पण्डित होकर भी यदि वह अनेकान्त तत्त्व की बारीकियों से सुपरिचित नहीं है तो भी उसके हाथ कुछ नहीं लग सकता। अमृतचन्द्र का अपने विषय पर पूर्ण अधिकार है। वे अनेकान्त तत्त्व के अधिकारी विद्वान् हैं और उसके प्रयोग में अत्यन्त कुशल हैं।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई से प्रकाशित प्रवचनसार की अपनी विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना (पृ० ६४) में भी उक्त चर्चा की है और उसके अन्त में लिखा है—

“यदि मेघविजय जी का कथन प्रामाणिक है तो अमृतचन्द्र काष्ठासंघ के हो सकते हैं। और यदि वे काष्ठासंघ के हैं, तो उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दों और वाक्यांशों तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में से कुछ प्रामाणिक गाथाओं की उनकी टीकाओं में न पाये जाने पर सुविधापूर्वक प्रकाश डाला जा सकता है। किन्तु यह सब मात्र अनुमान पर निर्भर है।”

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि अमृतचन्द्र की टीकाओं से जयसेन की टीकाओं में उपलब्ध गाथाओं की संख्या अधिक है। अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार की गाथा-संख्या क्रमशः १७३, २७५ और ४१५ है। किन्तु जयसेन की टीका के अनुसार क्रमशः १८१, ३११ और ४३६ है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि अमृतचन्द्र कुन्दकुन्द के आद्य टीकाकार हैं और जयसेन ने उनकी टीकाओं को आधार बनाकर ही अपनी टीकाएँ लिखी हैं। तथा दोनों के मध्य में कम से कम एक शताब्दी का अन्तराल अवश्य रहा है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि अमृतचन्द्र ने अपनी टीकाओं में ग्रन्थकार कुन्दकुन्द का कोई निर्देश नहीं किया है। उन्होंने ग्रन्थकार के लिए पञ्चास्तिकाय की टीका के अन्त में ‘अथैव शास्त्रकारः’ इत्यादि लिखते हुए शास्त्रकार शब्द का प्रयोग किया है। इससे ऐसा सन्देह होता है कि जो प्रतियाँ उन्हें प्राप्त हुईं उनमें कुन्दकुन्द का नाम न होगा। कुन्दकुन्द ने स्वयं तो अपनी कृतियों में अपना नाम दिया नहीं है। तथा उन ग्रन्थों से ही प्रभावित होकर अमृतचन्द्र ने उनकी टीका लिखी होगी। अन्यथा जिन रचनाओं ने उन्हें उनकी इतनी सुन्दर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखने के लिए प्रेरित किया, उन रचनाओं के कर्त्ता का नामोल्लेख तक न करना संभव प्रतीत नहीं होता।

कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में जिस अध्यात्म का प्रतिपादन किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। अतः अमृतचन्द्र ने उसे कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में ही पाया होगा। उसे पाकर वह इतने प्रभावित हुए कि उस पर उन्होंने ऐसे टीका-ग्रन्थ लिखे, मानो वे ‘उस विषय के

गहरे अभ्यासी और अत्यन्त निष्णात विद्वान्' हैं। उनकी टीकाओं ने कुन्दकुन्द के प्राभूतत्रय को चमका दिया है। कुन्दकुन्द के द्वारा आरोपित, अध्यात्मरूपी वृक्ष को सिञ्चित करके पुष्पित करने का काम अमृतचन्द्र ने ही किया है। उन्होंने प्रत्येक गाथा पर जो भाष्य लिखा है वह सर्वथा आगमानुकूल है और गाथा के हार्द को स्पष्ट करने वाला है। निश्चय और व्यवहार की गुत्थियों को सुलभाते हुए उनके पारस्परिक विरोध को मिटाने के लिए उनका एक सूत्ररूप कलश ही इसका उदाहरण है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के  
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।  
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-  
रनवमनयपक्षाक्षुण्णभीक्षन्त एव ॥

समयसार की टीका में आगत पद्य जो 'समयसार-कलश' के नाम से ख्यात हैं, सममुच में अमृत-कलश हैं। उन कलशों में अध्यात्मरूपी अमृत भरा है।

ऐसे टीकाकार अमृतचन्द्र ने क्यों अपने टीका-ग्रन्थों में कुन्दकुन्द का नामनिर्देश तक नहीं किया, यह चिन्त्य है। इसके साथ ही उनके टीकाग्रन्थों की गाथा-संख्या में जयसेन के टीका-ग्रन्थों की गाथा-संख्या से अन्तर होने का कारण भी समझ में नहीं आता। सन्तोष के लिए यही मानना पड़ता है कि उन्हें जो प्रतियाँ प्राप्त हुईं, उनमें इतनी ही गाथाएँ रही होंगी। किन्तु इस पर से यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जयसेन के सम्मुख अमृतचन्द्र की टीका के रहते हुए भी अधिक गाथाएँ उन्हें कहीं से प्राप्त हो गईं? और इस पर से यह सन्देह भी हो सकता है कि उन्हें अमृतचन्द्र ने क्या जानबूझकर छोड़ दिया? और यदि ऐसा किया तो क्यों किया? प्रवचनसार के तीसरे चारित्राधिकार में गाथा २४ के बाद ग्यारह गाथाएँ स्त्रियों के मुक्तिनिषेध से सम्बद्ध हैं जो जयसेन की टीका में पायी जाती हैं किन्तु अमृतचन्द्र की टीका में नहीं हैं। डा० उपाध्ये ने अपनी प्रस्तावना में जो यह लिखा है कि यदि अमृतचन्द्र काष्ठासंधी हैं तो कुछ गाथाओं के उनकी टीका में न पाये जाने पर सुविधापूर्वक प्रकाश डाला जा सकता है। इसमें उनका संकेत उक्त गाथाओं की ओर प्रतीत होता है क्योंकि देवसेन के दर्शनसार के अनुसार काष्ठासंध स्त्री-दीक्षा को स्वीकार करता है। किन्तु काष्ठासंध स्त्री-मुक्ति मानता था, इसका कहीं से भी समर्थन नहीं होता। अतः अमृतचन्द्र की टीका में उक्त गाथाओं के न पाये जाने से यह कल्पना करना उचित नहीं है कि वह काष्ठासंधी थे या स्त्री-मुक्ति मानते थे।

डा० उपाध्ये ने लिखा है, "मेरा अनुमान है कि अमृतचन्द्र अति आध्यात्मिक थे और वह साम्प्रदायिक वाद-विवाद में पड़ना पसन्द नहीं करते थे। तथा सम्भवतया वह अपनी टीका को आचार्य कुन्दकुन्द के उत्कृष्ट मन्तव्यों को लेकर ऐसी बनाना चाहते थे जो सब सम्प्रदायों को स्वीकार हो और तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणों से अछूती हो (प्रव० प्रस्ता०, पृ० ५१)

अपनी प्रस्तावना टिप्पण पाँच (पृ० ५१) में अमृतचन्द्र के श्वेताम्बर होने की संभावना का निराकरण करते हुए डा० उपाध्ये ने लिखा है: "अमृतचन्द्र अट्टाईस मूलगुण स्वीकारते हैं जिनमें एक नग्नता भी है। वह प्रवचनसार (३/गाथा ४, ६, २५) में आये साधु के 'जहजाद रूव' (नग्न-पद) को स्वीकारते हैं तथा अपने तत्त्वार्थसार में विपरीत मिथ्यात्व का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली ।  
रुचिरेवविधा यत्र विपरीतं हि तत् स्मृतम् ॥

"जहाँ सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ और केवली को ग्रासाहारी माना जाता है, यह विपरीत मिथ्यात्व है।"

उक्त दोनों बातें श्वेताम्बर मानते हैं। अतः अमृतचन्द्र के मत से वे 'विपरीत मिथ्यादृष्टि' हैं।

हमारे मत से प्रवचनसार जैसे क्रमबद्ध दार्शनिक ग्रन्थ में कुन्दकुन्द जैसे सिद्धहस्त ग्रन्थकार स्त्री-दीक्षा के विरोध में इतनी गाथाएँ नहीं लिख सकते। लिंगपाहुड एवं भावपाहुड आदि में भी उन्होंने बहुत सन्तुलित शब्दों में ही सवस्त्र मुक्ति और स्त्री-मुक्ति के विरोध में लिखा है। उनके प्राभूतत्रय रत्नत्रय हैं, अतः रत्नों के पारखी अमृतचन्द्र ने भी प्राञ्जल टीका की आभा से उन रत्नों को ऐसा चमका दिया कि विस्मृत-जैसे कुन्दकुन्द जैनाकाश में सूर्य की तरह प्रकाशित हो उठे। यदि अमृतचन्द्र ने अपनी टीकाएँ न रची होतीं, तो कौन कह सकता है कि कुन्दकुन्द एक हजार वर्ष की तरह आगे भी विस्मृति के गर्त में न पड़े रहते?

अमृतचन्द्र की टीका से प्रभावित होकर ही जयसेन ने भी तीनों प्राभूतों पर अपनी टीकाएँ लिखीं। और जयसेन की संस्कृत टीकाओं से प्रभावित होकर बालचन्द्र ने कनड़ी में टीका लिखी। और इस तरह कुन्दकुन्द के अध्यात्म की त्रिवेणी सर्वत्र प्रवाहित हो गई। इसका मुख्य श्रेय अमृतचन्द्रको ही प्राप्त होता है।